हिन्दी ग़ज़ल में सामाजिक सरोकार

डॉ. अनिल शर्मा
अध्यापक, बी.एस.एम. कालेज, रूड़की

'साहित्य' समाज की चेतना में साँस लेता है। यह समाज का वह परिधान है, जो जनता के जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विषाद, आकर्षण-विकर्षण के ताने-बाने से बुना जाता है। उसमें विशाल मानव-जाति की आत्मा का स्पन्दन ध्वनित होता है। साहित्यकार उसी समाज का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें वह जन्म लेता है। इसी सामाजिक वातावरण में उसका शरीरिक, बौद्धिक और मानसिक विकास भी होता है। मानव सामाजिक प्राणी है तथा साहित्य उसी मानव की अनुभूतियों, भावनाओं और कलाओं का साकार रूप है। इसी लिए विद्वानों ने साहित्य को समाज का दर्पण कहा है। इसी संदर्भ में अपने विचार प्रकट करते हुए प्रसिद्ध निबंधकार बाबू गुलाबराय कहते हैं-

"कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक खाद मिल जाता है, वैसी ही उसकी कृति होती है। वह अपने समय के वायुमण्डल में घूमते हुए विचारों को मुखरित कर देता है। कवि वह बात कहता है, जिसका सब लोग अनुभव करते हैं, किन्तु जिसको सब लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव-शक्ति औरों की अपेक्षा अधिक होती है।"

हिन्दी ग़ज़ल में सामाजिक सरोकार से हमारा अभिप्राय उन सभी संदर्भों से है, जो समाज से जुड़े होते हैं। आज हिन्दी ग़ज़ल में समाज से जुड़े पर उस अच्छे-बुरे पहलू को अभिव्यक्ति मिल रही है, जो व्यक्ति के जीवन पर सकारात्मक या नकारात्मक, किसी भी रूप में गहरा प्रभाव डालते हैं या डाल सकने में समर्थ हैं। साहित्य में प्रगतिवादी विचारधारा के आगमन के बाद हिन्दी-उर्दू साहित्य में 'कथ्य' की दृष्टि से व्यापक परिवर्तन हुए। उर्दू-ग़ज़ल भी इश्क और रूमानियत से हटकर आम आदमी की बेबसी एवं बेकसी को चित्रित करने लगी। सन् 1960 के बाद हिन्दी ग़ज़ल के क्षेत्र में दुष्यंत कुमार त्यागी का पदार्पण हुआ, जिन्होंने हिन्दी गजल में आम आदमी के सुख-दुख एवं मानवीय संवेदनाओं का अविर्भाव किया। बिलखते भूखे बच्चों एवं गरीबों की पीड़ा, दूषित राजनीति के कारण बढ़ता सामाजिक प्रदूषण, शहरों में बढ़ती भीड़ के बावजूद अकेलापन, आतंकवाद एवं अलगाववाद, दायरों में सिमटते मानवीय संबंध, श्हरों से गाँव तक, महलों से झोंपड़ों ड़ों तक, रेगिस्तानों से हरे-भरे खेत-खलिहानों तक हिन्दी-ग़ज़ल का कथ्य-क्षेत्र विस्तृत होता गया।

हिन्दी के ग़जलकारों ने ग़ज़ल का परिचय आम आदमी के दुख-दर्द से कराया। हिन्दी ग़ज़लों में मनुष्य के दुखों, अभावों और उसकी पीड़ा को जिस प्रकार व्यापक अभिव्यक्ति मिली है, उससे प्रेरित होकर डॉ. गिरिजानंदन 'आकुल' कहते हैं।

तीक्ष्णतर अनुभूतियों का धाम है हिन्दी-ग़ज़ल,
वेदना की सीपियों का नाम है हिन्दी-ग़ज़ल।
रूप-रति-व्यापार ही इसकी सरस सरगम नही,
क्रांति की हुंकार का उपनाम है हिन्दी-ग़ज़ल।
यह अनल के फूल की तोड़ी हुई है पंखुरी,
आँसुओं की धार का परिणाम है हिन्दी-ग़ज़ल।

डॉ. कुँअर बेचैन अपनी ग़ज़लों में सामाजिक संदर्भों को बहुत ही सशक्त रूप में अभिव्यक्ति देते हैं-

अब आग के लिबास को ज्यादा न दाबिए, सुलगी हुई कपास को ज्यादा न दाबिए।
चुभकर कहीं बना ही न दे घाव पाँव में, पैरों तले की घास को ज्यादा न दाबिए।

डॉ. कुँअर बेचैन के इन शेरों में 'आग का लिबास' वस्तुतः गरीब जनता का लिबास है, जिनसे अनगिनत निर्धन लिपटे हुए हैं और उनका जीवन वह 'सुलगी हुई कपास' है, जिसकी आग भीतर ही भीतर फैलती जा रही है। कवि व्यवस्थापकों को चेतावनी देता है कि यदि तुमने इस आग को दबाने का प्रयास किया तो यह आग और ज्यादा भड़क सकती है।

प्रसिद्ध हिंदी ग़ज़लकार दुष्यंत कुमार त्यागी ने समाज के पिछड़े निर्धन वर्ग के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए कहा है -

ये सारा जिस्म झुककर बोझ से दुहरा हुआ होगा,
मै सजदे में नहीं था, आपको धोखा हुआ होगा।
यहाँ तक आते-आते सूख जाती हैं कई नदियॉ,
मुझे मालूम है पानी कहाँ ठहरा हुआ होगा।

उपर्युक्त शेरों से स्पष्ट है कि आर्थिक लाभ की नदियाँ निर्धन एवं पीड़ित वर्ग तक आते आते पता नहीं कहाँ ठहर कर सूख जाती है और उन्हें कौन बीच में ही रोक लेता है ? दुष्यंत जी का संकेत स्पष्ट है कि अर्थतंत्र पर प्रभुत्व जमाने वाली शक्तियाँ पीड़ितों और वंचितों तक उनकी मेहनत का लाभ पहुँचने ही नहीं देती हैं।

डॉ. अजय जनमेजय ने गरीब के घर में बैठी भूख का ऐसा वर्णन किया है, जो सहज ही मानव की संवेदनाओं को झकझोर देता है -

भूख लगी, बच्चा रोया, तुम कुछ भी पीने को दे दो,
दूध नहीं था पहले भी, क्या घर का सूख गया पानी।

आर्थिक विषमताजन्य निर्धनता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। कितने ही लोगों को तन ढ़कने के लिए एक वस्त्र भी नहीं मिलता। व्यक्ति जी-तोड़ मेहनत करता है, किन्तु फिर भी अपने बच्चे के मन बहलाव के लिए एक खिलौना भी नहीं जुटा पाता। ग़ज़लकार ओंकार गुलशन का सामाजिक व्यवस्था पर करारा व्यंग्य देखिए -

कितने जिस्मों पे नहीं आज भी कपड़ा कोई,
इस समस्या पे तो आयोग न बैठा कोई।
चोर बनता नहीं बच्चा तो भला क्या बनता,
जब खिलौना नहीं बाजार में सस्ता कोई।

भौतिकवाद की अतिशयता के कारण आज आत्मीयता समाप्त प्रायः होती जा रही है। आदमी अब आदमी से निरन्तर दूर होता जा रहा है। हिन्दी के विद्धान एवं ग़ज़लकार डा. योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरूण' ने वर्तमान सामाजिक संदर्भो में जिदंगी का खाका इस प्रकार खींचा है -

खत्म होती जा रही है जिंदगी, आज खुद को खा रही है जिंदगी।
जिंदगी का अब भरोसा क्या करें, मौत के घर जा रही है जिंदगी।
आदमी अब आदमी से दूर है, मरसिया-सा गा रही है जिंदगी।

भारतीय संस्कृति का 'वसुधैव कुटुम्बकम' का आदर्श आज बिल्कुल निरर्थक सा हो गया है। आज आदमी केवल अपने तक सीमित रहना चाहता है। आज के व्यक्ति की इसी मानसिकता को माणिक वर्मा ने प्रस्तुत शेर में अभिव्यक्त किया है -

आप अपनी सरहदों में सो गया है आदमी,
चीन की दीवार जैसा हो गया है आदमी।

आज सारे समाज का स्वरूप विकृत होता जा रहा है। भ्रष्टाचार आज की जीवन-शैली का अंग बन गया है। भ्रष्टाचार एक ऐसी भयंकर दलदल है, जिसमें सभी के पाँव धँसे हुए हैं। हिन्दी ग़ज़ल के प्रतिष्ठित ग़ज़लकार दुष्यंत कुमार इस स्थिति पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं-

हर सड़क पर इस क़दर कीचड़ बिछा है,
हर किसी का पाँव घुटनों तक सना है।

आज प्रत्येक ओर आतंक का वातावरण है। हिन्दी ग़ज़लें भी आतंकवाद से आतंकित दिखाई पड़ती है। सड़क पर रखी किसी भी चीज में बम हो सकता है, यही रामगोपाल 'भारतीय' अपनी ग़ज़ल में कहते हैं-

सोचिए बच्चों के हाथों में खिलौना देखकर,
इन खिलौनों में कोई बम ही छिपा हो क्या खबर।
वक्त का चिंगारियों से, गुप्त समझौता हुआ,
किस घड़ी षडयंत्र में शमिल हवा हो, क्या खबर।

आतंकवादी कोई आसमान से टपका हुआ अनोखा जानवर नहीं है,बल्कि हम सबके बीच का एक ऐसा आदमी है, जिसने अपनी आदमीयत को लालच में त्याग दिया है। आदमी के खून का प्यासा बने आदमी की स्थिति में डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल के निम्न शेरों में देखिए-

बहुत मर गए हैं छतें उड़ गईं, कोई हादिसा फिर अचानक हुआ।
ग़जब यह है खुद मैं ही अपने खिलाफ, कई साजिशों में सहायक हुआ।

साम्प्रदायिक वैमनस्य, अलगाववाद तथा ईर्ष्या-द्वेष का जहर फैलाने वाले लोगों को साम्प्रदायिक सद्भाव की सीख देते हुए लोकप्रिय ग़ज़लकार एवं कवि गोपाल दास 'नीरज' कहते हैं-

अब तो इक ऐसा वरक़ मेरा-तेरा ईमान हो,
इक तरफ गीता हो जिसमें इक तरफ कुरआन हो।
काश ऐसी भी महौब्बत हो कभी इस देश में,
मेरे घर उपवास हो जब तेरे घर रमजान हो।

कमजोर पड़ रही मानवता की भावना और विलुप्त हो रहे प्रेम के वातावरण से चिंतित ग़ज़लकार ऋषिपाल धीमान 'ऋषि' के निम्न शेर पतनोन्मुख समाज पर करारी चोट करते हैं-

गुलशन हमारे प्यार का ऐसे उजड़ गया,
इन्सानियत का पेड़ ज्यों जड़ से उखड़ गया।
देख जो आदमी का सुलूक आदमी के साथ,
मैं क्या बताऊँ ? शर्म से धरती में गड़ गया।

सत्संग, प्रवचन और दीक्षा के नाम पर अब व्यक्ति पूजा का प्रचलन अधिक हो गया है। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी धन का हस्तक्षेप बढ़ रहा है, जो हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं के एकदम विपरीत है। ग़ज़लकार ओमप्रकाश 'नदीम' ने स्वयंभू भगवान बने पाखण्डियों के जलसों को दुकान की संज्ञा देते हुए सुंदर लाक्षणिक अभिव्यंजना की है -

कल मज़हब के मेले में दूकानें लगती थीं,
अब मज़हब की दूकानों पर मेला लगता है।

तेजी से टूट रहे मानवीय संबंधों एवं संवेदनहीनता के निराशाजनक वातावरण के बीच हिन्दी के प्रतिष्ठित ग़ज़लकार डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल आशा का संचार करते हुए 'परोपकार' का संदेश देते हैं-

आज तक जीते रहे हो अपनी-अपनी जिंदगी,
दोस्तों ! इक दूसरे की जिंदगी बनकर जिओ।
ओंस की बूँदो में ढलकर तुम अगर बिखरे तो क्या,
दूर तक बहती हुई शीतल नदी बनकर जिओ।

अतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी ग़ज़लों में सामाजिक बोध बहुआयामी रूप में प्रकट हुआ है। हिन्दी ग़ज़लकारों ने बड़ी व्यापकता और गहनता के साथ सामाजिक यथार्थ का चित्रण करते हुए आम आदमी के जीवन से संबंधित अधिक से अधिक पहलुओं को अपनी ग़ज़लों में समेटने में सफलता प्राप्त की है।

***